International Journal of Humanities and Social Science Invention (IJHSSI)
ISSN (Online): 2319 – 7722, ISSN (Print): 2319 – 7714
www.ijhssi.org ||Volume 8 Issue 2 Ser. I ||February, 2019 || PP.89-91

मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृति की वर्तमान में प्रासंगिकता

रेखा जौरवाल
सह आचार्य इतिहास विभाग
गौरी देवी महिला महाविद्यालय,
अलवर (राज.) 301001

वर्ण व्यवस्था ही वह धुरी है, जिसके चारों ओर सामाजिक व्यवस्था घूमती है। यह व्यवस्था व्यक्ति की प्रकृति, उसके पालन पोषण की समस्याओं और समाज के कार्यात्मक विभाजन से सम्बन्धित है। यदि यह कहा जाय कि वर्ण व्यवस्था, सामाजिक संगठन हिन्दू सिद्धान्त की आधारशिला के रूप में कार्य करती है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वर्णों की उत्पत्ति का संकेत ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में उपलब्ध होता है। ब्राह्मण विराट् स्वरूप परमात्मा के मुख रूप हैं। क्षत्रिय उनकी भुजाएं हैं। वैश्य उनकी जंघाएं हैं और शूद्र उसके पांव हैं।

ब्राह्मण का रंग श्वेत, क्षत्रिय का लाल, वैश्यों का पीत और शूद्रों का काला है। उपर्युक्त कथन से एक जिज्ञासा होती है कि रंगों से वर्णों का निश्चय कैसे हुआ? इस जिज्ञासा का समाधान करते याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि जिसमें, पवित्रता, यजन–याजन आदि गुण विद्यमान होते हैं, वही ब्राह्मण कहा जाता है। इसलिए ब्राह्मण के अन्दर इन उपर्युक्त गुणों का योग होने से उसका श्वेत रंग सत्त्वगुण (पवित्रता) का परिचायक था। तीखे स्वभाव वाले और जो क्रोधी थे, उनके शरीर का रंग लाल हो गया, जिस कारण वे क्षत्रिय कहलाने लगे। इस प्रकार स्वभावज गुणों के अनुसार क्षत्रियों का यही लाल रंग राक्षसी गुणों को व्यक्त करता था। गौओं तथा कृषि कर्म द्वारा जीविका चलाने के कारण वैश्यों के शरीर का रंग पीला पड़ गया। यह पीत रंग रजोगुण एवं तमोगुण के मिश्रण का भी सूचक था, तथा सत्त्वगुण निन्दनीय कर्म के कारण जिनका काला रंग तमोगुण एवं अपवित्रता का परिचायक था, वे शूद्र कहलाए। इसी सन्दर्भ में ब्रह्मा ने सत्त्व आदि गुणों का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि ब्राह्मणों में की प्रधानता एवं क्षत्रिय में रजोगुण एवं शूद्रों में तमोगुण की प्रधानता पाई जाती है।

मनु एवं याज्ञवल्क्य ने समाज संचालन हेतु चार वर्णों का उल्लेख किया है, किन्तु वर्ण संकरता के परिणाम स्वरूप उनसे सत्तावन जातियाँ बन गयीं। मनु एवं याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र का उल्लेख मुख्यतः चार स्तम्भों के रूप में किया है। प्रथम सोपान पर अपने पूज्यों के प्रति भक्ति भाव रखकर उनकी सेवा शुश्रुषा में लगे रहना शूद्रों का कर्म रहा है तो कृषि कार्य, व्यापारादि से सामाजिक तन्त्र का समन्वय बनाये रखना वैश्यों का उत्तदायित्व बना । तृतीय चरण में क्षत्रियों को अपने समाज की सुरक्षा का भार सौंपा गया और चतुर्थ पर समाज को कुशल नेतृत्व प्रदान करते हुए उसे अभीष्ट सत्य की ओर अग्रसर कराने का उत्तरदायित्व बुद्धिजीवी, चिन्तनशील ब्राह्मणों को सौंपा गया है।

जातिवाद, कार्यवाद, बुरा–भला दोनों हो सकता है। समय काल के अनुसार इस वर्ण व्यवस्था में दोष आ गये इसलिए महात्मा गांधी ने 'हरिजन आन्दोलन'शुरू किया। 'हरिजन'शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हिन्दी साहित्य के स्तम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था–'इन मुसलमानन पर कोटि हरिजनन देहिंबार'। गोस्वामी तुलसीदास को भी यह शब्द प्रिय था। लेकिन वर्तमान में इसे आपत्तिजनक माना जाने लगा है।

मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृतियों में वर्णसंकरों का सविस्तार वर्णन प्राप्त होता है। मनु का कथन है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अतिरिक्त पांचवाँ कोई वर्ण नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की अपनी जाति वाली स्त्रियों में सन्तान सजातीय कहलाती हैं। स्वजाति से भिन्न स्त्रियों से विवाह हीन माने जाते हैं। ये विवाह दो प्रकार के हैं– अनुलोम और प्रतिलोम अनुलोम का अभिप्राय है अपने से निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह। प्रतिलोम का अर्थ है– अपने से उच्च वर्ण की स्त्री से विवाह। इस प्रकार अनपुलोमज और प्रतिलोमज दो प्रकार की वर्णसंकर सन्तान होती हैं। अनुलोम और प्रतिलोम जातियों में सम्बन्ध योजना से उत्पन्न होने वाली निकृष्ट जातियों का विस्तृत परिचय मनु इस प्रकार देते हैं–निम्नोक्त सात जातियों के पुरुषों द्वारा अपनी जाति की स्त्रियों के गर्भ से उत्पन्न सन्तान पिता की जाति की कहलाती है, परन्तु इन छह जातियों के पुरूषों द्वारा अपने से उच्च जाति के गर्भ से उत्पन्न की गयी सन्तान की जाति के स्थान पर माता की जाति को धारण करती है।

बुद्धिजीवी वर्ग में वे व्यक्ति आते हैं जिनका कार्य प्रमुख रूप से बुद्धि तथा भावना से संचालित होता है। इस वर्ग में अध्यापक, शोधकर्ता, अनुसन्धानकर्ता, वैज्ञानिक, चिकित्सक, वकील, दार्शनिक, धार्मिक उपदेशक, कथावाचक, समाज सुधारक, प्रशासन से सम्बन्धित व्यक्ति, लेखक, चित्रकार, संगीतकार, कलाकार आदि आते हैं। ये सभी शारीरिक शक्ति से सम्पन्न भले ही हों, उनका कार्य प्रधानतया बौद्धिक तथा कलात्मक होता है। इन व्यक्तियों की एक भिन्न मानसिकता तथा भिन्न बुद्धिवैभव होता है। इनको मनु द्वारा निर्दिष्ट ब्राह्मण माना जा सकता है जो समस्त समाज का कर्णधार होने के

साथ–साथ सम्मान का पात्र हुआ करता था। समाज का पथ प्रदर्शक तथा दिशा निर्देशन का दायित्व उस पर शिक्षा गुरू, यज्ञकर्ता, मन्त्रणादाता के रूप में था तो आज बुद्धिजीवी के रूप में है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में वर्णव्यवस्था सम्बन्धी शब्दों का विशेष महत्व नहीं रह गया है। क्योंकि देश, काल, वातावरण के अनुसार स्थितियाँ तेजी से बदली हैं, जो पद, प्रतिष्ठा एवं शासन पर पहुँचे निम्नवर्ग के लोगों की कार्यशैली के उचित कार्यान्वयन से सिद्ध हो रहा है कि यदि उन्हें उचित वातावरण मिले तो वह सभी वर्गों के समान कार्य कर सकते हैं और विभिन्न देशों में यह लोग शासन–सत्ता में बैठकर उचित कार्य कर भी रहे हैं।

मनु के अनुसार चारों वर्णों के लोगों के लिए सामान्य रूप से पालन करने योग्य धर्म है।

1. हिंसा न करना,

2. मिथ्याभाषण न करना,

3. चोरी न करना,

4. पवित्रता रखना तथा

5. इन्द्रिय – दमन।

चार आश्रम ही इस प्रकार क्रमशः धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि में सहायक माने जाते हैं। क्योंकि जीवन को निष्क्रिय बनाने से रोकने के लिए अर्थ और काम को मर्यादित रखने हेतु धर्म को मुख्य नियामक बनाकर मोक्ष को प्राप्त करवाना ही आश्रम व्यवस्था का मुख्य स्वरूप था । शैशवोपरान्त पच्चीस वर्षों तक शेष सांसारिकता से च्युत, निष्कलुष रहकर निर्जन वन के शान्त परिवेश में स्थापित पर्णशाला अथवा शीतल छाह के सघन विशाल वृक्ष तले गुरू चरणों की शुश्रूषा में तल्लीन शिष्य की श्रद्धा, सेवा से प्रसन्न होकर गुरू जहाँ उसे संसार की निस्सारता को दर्शाकर मनुष्य जन्म को सार्थक प्रदर्शन करता है और जहाँ शिष्य भी जीवन पथ पर आने वाले विभिन्न लुभावने भ्रमजालों के प्रति सचेष्ट होकर उनसे साक्षात्कार कर सकने वाले व्यक्तित्व का विकास करता है, वही ब्रह्मचर्य आश्रम है और यही इसकास्वरूप है। तदुपरान्त गुरू शरण में बीते पच्चीस वर्षों की सेवा के फल को युवक जीवनोपयोगी सिद्धान्तोंके गुरुमन्त्र के रूप में पाता है अर्थात् जब वह गुरूकुल से विद्याध्ययन समाप्त कर स्नातक हो जाता है तब पच्चीस से पचास वर्ष तक जिस आश्रम में वंश वृद्धि हेतु पाणिग्रहणादि संस्कारों से सम्पन्न हो, यज्ञ, दानादि श्रेष्ठ कार्यों को कर व्यवहार रूप से सामाजिक, धार्मिक कार्यों का अनुशीलन करते हुए लौकिक सुखों का उपभोग करता है, वहीं गृहस्थ आश्रम का रूप है। गृहस्थ आश्रम के पश्चात् ढलते जीवन में मनुष्य पुनः माया मोह से विरक्त होकर शान्ति की खोज करता है। इसलिए आश्रम व्यवस्था के तीसरे चरण में पचास से पचहत्तर वर्ष तक वानप्रस्थ आश्रम का विधान किया गया है।

वानप्रस्थ आश्रम में मनुष्य अपनी पत्नी के साथ एकान्त वन में ही रहकर अपनी इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करता है एवं सांसारिक माया–मोह, छल, दम्भ, पाखण्ड, झूठ आदि से अपने विमुख मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है। यही स्थिति मानव के लिए किंकर्तव्य विमूढ़ता की होती हैं। क्योंकि परिवार में रहकर भी उसे पारिवारिक मोह आदि से मन को हटाकर अपने मन में यह भाव पुष्ट करना होता है कि संसार में एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है एवं ब्रह्म से अतिरिक्त यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है। इस प्रकार इस आश्रम में मानव सत्य ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

धीरे–धीरे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ के उत्तदायित्वों से मुक्त होकर पचहत्तर वर्ष के बाद स्वतन्त्रता से बन में विचरण करना ही सन्यास आश्रम का लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पूर्णतः आसक्ति रहित होना पड़ता है। आत्मिक बल से सुसज्जित हो आध्यात्मिक लक्ष्य सिद्धि हेतु सांसारिक माया–मोह आदि बन्धनों का त्याग जिस आश्रम में किया जाता है, उसे ही सन्यास आश्रम कहते हैं।

भारतीय संस्कृति ने कर्म फल के आधार पर ही पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त को स्वीकारा है। अतः मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही मानव सन्यास आश्रम में प्रवेश करता है एवं सम्पूर्ण बन्धनों का त्याग कर अपने मन, बुद्धि तथा शरीर में स्वच्छता लाता है।

संदर्भ सूची

1प मनुस्मृति, 2.10
2प ऋग्वेद, 1.80.16, 1.114.2, 2.33.13

3प ऋग्वेद, 10.63.3, 8.30.3
4प मनुस्मृति, 1.36
5प वायुपुराण,

6ण वायुपुराण,
7ण विदुरनीति, भूमिका भाग
8ण मनुस्मृति, 2.11
9ण मनुस्मृति, 6.91–93
10ण मनुस्मृति, 1.109, याज्ञवलक्य स्मृति, 1.5.122
11ण मनुस्मृति, 1.110
12ण मनुस्मृति, 1.111, याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.2.10